
इकाई 25 किसान*

संरचना

- 25.1 प्रस्तावना
- 25.2 राष्ट्रवाद और किसान समुदाय के बीच संबंध पर विभिन्न विचार
- 25.3 उपनिवेशवाद के तहत किसानों की स्थिति
- 25.4 किसान समुदाय और आरंभिक राष्ट्रवाद
- 25.5 जन राष्ट्रवाद और किसान
 - 25.5.1 गांधी और किसान
 - 25.5.2 असहयोग के दौरान किसान आंदोलन
 - 25.5.3 1930 दशक के दौरान किसान आंदोलन
 - 25.5.4 1940 दशक के दौरान राष्ट्रवाद और किसान
- 25.6 किसान समुदाय और भारतीय राष्ट्रवाद— एक मूल्यांकन
- 25.7 सारांश
- 25.8 अभ्यास

25.1 प्रस्तावना

1757 में बंगाल में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के विरुद्ध किसानों समेत भारत की जनता के अनेक तबकों ने प्रतिरोध किया। औपनिवेशिक शोषण और अपने जीवन में हस्तक्षेप के विरुद्ध किसानों के प्रतिरोध के क्रम में रोजमर्रा के प्रतिरोध से लेकर विद्रोह तक तमाम रूप अपनाए गए। लगभग सौ सालों तक इन प्रतिरोध आंदोलनों का नेतृत्व बेदखल जमींदार, स्थानीय कुलीन, साधु-सन्यासी और अन्य धार्मिक तथा बिरसा मुंडा जैसे किसान या आदिवासी नेता करते रहे। ये आंदोलन 1857 में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आम विद्रोह में परिणत हुए। मुंडा विद्रोह जैसे कुछ महत्वपूर्ण किसान विद्रोह तो सदी के अंत तक जारी रहे। बहरहाल 1857 के बाद किसान प्रतिरोध आंदोलनों में हम मध्यवर्गीय आधुनिक शहरी लोगों की अधिकाधिक संलिप्तता देखते हैं। आधुनिक शिक्षा पद्धति में पढ़े लोगों तक राष्ट्रवादी विचारों की पहुंच जैसे ही हुई किसी न किसी रूप में ये विचार किसानों तक भी पहुंचे। इस इकाई में हम राष्ट्रवाद और किसानों के बीच की अंतःक्रिया पर चर्चा करेंगे ताकि उसके विविध आयामों को खोजा जा सके।

25.2 राष्ट्रवाद और किसान समुदाय के बीच संबंध पर विभिन्न विचार

मुख्य राष्ट्रवादी संगठन, कांग्रेस और किसानों के बीच रिश्तों के संबंध में इतिहासकारों के नाना विचार हैं। फिलहाल हम इस मुद्दे पर कुछ इतिहासकारों के विचारों की चर्चा करेंगे। राष्ट्रवादी इतिहासकार किसान आंदोलनों पर या तो बेहद कम ध्यान देते हैं या किसानों को ऐसा सोया हुआ समूह समझते हैं जिसे राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा राष्ट्रवादी संघर्ष में भागीदारी के लिए जगाया गया। मान लिया जाता है कि किसान अराजनीतिक थे जिन तक राजनीति राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं के जरिए पहुंची। आम तौर पर माना जाता है कि किसान समुदाय

किसी समरूप झुंड की तरह था जिनका राजनीतिक मंच पर पदार्पण गांधीवादी राष्ट्रवाद के प्रभाव से हुआ। इस तरह बीसवीं सदी के किसान आंदोलनों को राष्ट्रीय आंदोलन में समाहित कर लिया जाता है।

किसानों के बारे में ज्यादातर लेखन व्यापक मार्क्सवादी नजरिए से जुड़ा हुआ है। हालांकि मार्क्सवादी इतिहासकार मानते हैं कि राष्ट्रवादी आंदोलन ने किसान चेतना और आंदोलन पर अद्भुत असर डाला लेकिन वे कांग्रेस, खासकर गांधी के प्रभाव को नकारात्मक समझते हैं। राष्ट्रवादी आंदोलन को वे ऐसा बुर्जुआ आंदोलन समझते हैं जो संपत्तिशाली वर्गों के हितों का संरक्षक था और जब भी आंदोलन जुझारू होता तो उसे रोकना, नियंत्रित करना या उसका दमन करने का पक्ष ले लेता था। उनका कहना है कि कांग्रेस ने किसानों की जमींदार-विरोधी मांगों को नहीं उठाया और किसानों के वर्गीय संगठनों को हतोत्साहित किया। रजनी पाम दत्त और ए आर देसाई ने जनता के प्रति कांग्रेस के रुख के सिलसिले में बुनियादी मार्क्सवादी नजरिए को सूत्रबद्ध किया है और बहुत सारे परवर्ती मार्क्सवादी इतिहासकारों ने उन्हीं का अनुसरण किया है। (मार्क्सवादी नजरिए के बारे में विस्तार हेतु, देखें शशिभूषण उपाध्याय, 2016)।

अपने शुरुआती लेखन में बिपन चंद्र ने किसानों के प्रति कांग्रेसी नीति के बारे में आलोचनात्मक रुख अपनाया था। उनका कहना था कि 'साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय एकता के नाम पर किसानों के हितों को कमोबेश कुर्बान कर दिया गया। एकतरफा किसानों की कीमत पर राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ावा दिया गया। कई सालों तक राष्ट्रीय कांग्रेस व्यापक आधार वाला कोई कृषि कार्यक्रम विकसित नहीं कर सकी। गांधी द्वारा संचालित तीनों बड़े आंदोलन, यानी 1920, 1930 और 1942 वाले, ऐसे किसी कार्यक्रम के बिना शुरू किए गए।' उनका यह भी कहना है कि किसानों और जमींदारों के बीच टकराव होने पर आम तौर पर गांधी ने किसानों की मांगों को नरम बनाने और उनके जुझारूपन पर रोक लगाने की कोशिश की। जहां तक किसानों की प्रमुख मांगों पर ध्यान देने का सवाल है 1937 से 1939 के बीच कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का रेकार्ड 'इस मामले में एकदम बेकार रहा। खेती किसानों के उनके कानून कमजोर और नाकाफी थे, एकमात्र महत्वपूर्ण राहत सूदखोरों के मुकाबले दी गई। कुल मिलाकर उनका रुख किसानों के पक्ष में नहीं था।' हालांकि 1940 के दशक में कांग्रेस ने ऐसे कदम उठाए जिनका नतीजा जमींदारी उन्मूलन था लेकिन इससे 'निम्न वर्गीय किसानों की बहुसंख्या' को कोई फायदा नहीं हुआ। कांग्रेस की ऐसी नीति बड़े भूमिधरों और जमींदारों के हितों के प्रति श्रद्धा के चलते नहीं बनी, बल्कि इसकी वजह धनी किसानों, छोटे और तबाह जमींदारों, जमीन के मालिक और छोटी सूदखोरी में शामिल मध्य वर्ग के कुछ तबकों तथा देहात में विभिन्न कामों से घनिष्ठ रूप से संबद्ध व्यापारियों और सूदखोरों के हितों को समाहित करने की जरूरत थी (बिपन चंद्र 1976: 18-21)।

सुमित सरकार ने अपने लेख 'द लाजिक आफ गांधियन नेशनलिज्म' (1985) में कहा है अपने कठोर सांगठनिक नियंत्रण में जन गोलबंदी की कांग्रेसी राजनीति 'बुर्जुआ हितों के एकदम अनुरूप थी जो जन विक्षोभ का इस्तेमाल तो करना चाहता थी लेकिन उसे एक हद के भीतर भी रखना चाहता थी'। 1940 दशक के दौरान भी 'लोकप्रिय "अतियों" के डर से कांग्रेसी नेता मोलतोल और समझौते की राह पर ही चले और बंटवारे को भी जरूरी कीमत के बतौर मंजूर कर लिया'।

धनागरे के अनुसार 'गांधीवादी "रचनात्मक" गतिविधियों की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका तनाव के प्रबंधन की थी। इससे ही धनी जमींदारों का अपने असाधियों और मजदूरों के साथ संश्रय व्याख्यायित होता है' (डी एन धनागरे 1983: 104)। कपिल कुमार के अनुसार कांग्रेस के बुर्जुआ नेतृत्व ने 'स्वराज के आर्थिक पक्ष और किसानों की मांगों को भुलाकर राजनीतिक

स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए किसानों के समर्थन का दोहन किया। और 'दो जन आंदोलनों (1920-22 और 1930-32) की वापसी का मुख्य कारण लगानबंदी अभियान का भय था क्योंकि इसका मतलब होता उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के साथ सामंतवाद विरोधी संघर्ष का मिल जाना' (कपिल कुमार 2011: 146, 147)। उनका तो यह भी कहना है कि 'असल में गांधी ने चंपारण में किसानों की क्रांतिकारी संभावना पर नियंत्रणकारी असर डाला जो उनके हस्तक्षेप के बिना जुझारू संघर्षों में फूट पड़ा होता' (कपिल कुमार 1983: 17,19)।

किसान आंदोलनों के अनेक अध्ययनों में ग्रामीण कुलीनों के नेतृत्व पर जोर दिया गया है जो देहाती क्षेत्रों में कांग्रेस के समर्थन का आधार थे। डी ए लो और जैक पौचेपादस ने आम तौर पर कृषक आंदोलनों और खास तौर पर राष्ट्रवादी आंदोलनों में 'प्रभावी किसानों' की महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित किया है। असल में ये प्रभावी किसान कृषकों का वह समूह थे जिन्हें गांवों में स्वाभाविक नेता माना जाता था। वे जिस आंदोलन का समर्थन करते थे उसमें ग्रामीणों के निचले वर्गों और जातियों को भी खींच लाते थे। (देखें शाहिद अमीन 1988: 106)।

इतिहास लेखन की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति, सबाल्टर्न इतिहास लेखन, में अन्य किस्म के तमाम लेखन को 'कुलीन' या 'प्रति-विद्रोहिता' विमर्श से जुड़ा हुआ लेखन, ऐसा लेखन जिसमें किसान विद्रोहियों को अराजकतावादी या तोड़फोड़मूलक चित्रित करने की प्रवृत्ति हो, कहकर उसे खारिज कर दिया जाता है। सबाल्टर्न नजरिए में कांग्रेस के नेतृत्व में संचालित राष्ट्रीय आंदोलन कुलीनतावादी था जो अंग्रेजी राज के विरुद्ध किसान विद्रोहों को रोकता था। किसान आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन से स्वतंत्र होकर विकसित हुआ तथा कांग्रेसी राष्ट्रवाद और किसानों के बीच कोई घनिष्ठ, सकारात्मक संबंध नहीं था। रंजीत गुहा, शाहिद अमीन, पार्थ चटर्जी, ज्ञानेंद्र पांडेय और डेविड हार्डीमैन ऐसे महत्वपूर्ण निम्नवर्गीय इतिहासकार हैं जिन्होंने इस मुद्दे पर विचार किया है।

मृदुला मुखर्जी ने ढेर सारे इलाकों में किसान आंदोलनों को शुरू करने और चलाने में कांग्रेस की भूमिका का मजबूती से बचाव किया है। उनका कहना है कि खासकर 1918 के बाद किसान आंदोलनों को खड़ा करने में राष्ट्रवादी आंदोलन ने अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसके बाद से किसान आंदोलन 'या तो राष्ट्रीय आंदोलन के अंग के रूप में या फिर उसके साथ चले या उन क्षेत्रों में अथवा उन तबकों में पैदा हुए जहां कभी न कभी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों का प्रभाव रहा था।' जिन कार्यकर्ताओं या संगठनों ने पहले राष्ट्रीय आंदोलन में भूमिका निभाई वे ही बाद में किसान संघर्षों को शुरू करने और चलाने में सक्रिय रूप से शामिल रहे। यहां तक कि कार्यकर्ता भी वे ही थे जिन पर 1930 दशक का मजबूत किसान सभा आंदोलन आधारित था। खासकर गांधी जी ने इसमें सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राष्ट्रीय आंदोलन साम्राज्यवाद विरोध की विचारधारा पर आधारित बहु-वर्गीय आंदोलन था। इसके चलते राष्ट्रवादी आंदोलन की समग्र आवश्यकता के साथ किसान-वर्गीय मांगों के समायोजन की जरूरत पड़ी। इसलिए अगर कुछ बिंदुओं पर किसान आंदोलन पर रोक लगाने की बात सिद्ध हो भी जाती है तो इसका यह मतलब नहीं है कि 'किसानों के साथ धोखा हुआ या उनके हितों की बलि दे दी गई।' ऐसे कार्यनीतिक समायोजन किसी भी साझा संघर्ष का अंग होते हैं जिसमें विभिन्न हितों वाले अनेक समूह भाग लेते हैं। (देखें मृदुला मुखर्जी 2004)

25.3 उपनिवेशवाद के तहत किसानों की स्थिति

औपनिवेशिक भारत में किसान आंदोलनों के पैदा होने का प्रमुख कारण यह था कि अंग्रेजों ने देश की कृषि संरचना में कई बदलाव लागू किए। जमीन पर अधिकार और स्वामित्व

संबंधी प्राक-औपनिवेशिक व्यवस्था में अंग्रेजों द्वारा थोपी गई नई भू-राजस्व नीतियों के चलते भारी उथल पुथल मच गई क्योंकि नई नीतियां जमीन के निजी मालिकाने के पक्ष में थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा साम्राज्य विस्तार के लिए युद्धों के कारण अधिकाधिक धन की जरूरत पड़ती थी। राजस्व का मुख्य स्रोत खेती थी। शुरू में राजस्व से कमाई की एक व्यवस्था लागू की गई और राजस्व इकट्ठा करने का काम सबसे अधिक निलामी लगाने वाले को दे दिया गया। इससे किसानों के चरम शोषण, गरीबी और अकाल, तथा जनता में विक्षोभ बढ़ा। बाद में भू-राजस्व को एकत्र करने के काम को नियमित करने के लिए भारत के विभिन्न भागों में तीन किस्म की भू-राजस्व प्रणालियां लागू की गईं: जमींदारी, रैयतवाड़ी, और महालवाड़ी। इन सबमें स्थायी बंदोबस्त वाले इलाकों में राजस्व की मांग बहुत अधिक रखी गई जिसके चलते जमींदारों को किसानों से और अधिक वसूलने की प्रेरणा मिली। रैयतवाड़ी के इलाकों में समय समय पर संशोधन का प्रावधान था जिसके चलते प्रत्येक कुछ वर्षों के बाद लगान बढ़ जाती थी। किसानों के लिए यह चीज बोझ बन गई थी और उन्हें बचत का कोई मौका ही नहीं मिलता था। लगान का भारी बोझ, समय पर उसकी कड़ाई से वसूली, संकट के समय भी उसे माफ न करना— इन सबके चलते किसानों को सूदखोरों से कर्ज लेने के लिए बाध्य होना पड़ता था। कुछ सालों के बाद इस कर्ज की व्यवस्था के चलते किसानों का जमीनों पर से नियंत्रण खत्म होने लगा।

धीरे धीरे उपनिवेशवाद ने ग्रामीण इलाकों में खासकर भूमि संबंधों की संरचना में महत्वपूर्ण बदलाव किए। आर्थिक संबंधों के पारंपरिक ढांचे की जगह नए आर्थिक संबंधों और संस्थाओं ने ले ली जिसमें सबसे ऊपर अनुपस्थित जमींदार और सूदखोर थे और बटाईदार, अस्थायी बटाईदार तथा कृषि मजदूर सबसे नीचे थे। किसानों और सरकार के बीच मध्यस्थों की संख्या में आश्चर्यजनक बढ़ोतरी हुई। कृषि उत्पादकता घट गई, खेती की पैदावार में ठहराव आ गया, भोजन की प्रति व्यक्ति उपलब्धता घट गई, और किसान समुदाय में दरिद्रता छा गई। औपनिवेशिक शासन का जोर निजी संपत्ति को कड़ाई के साथ अंकित करने पर था जिसके चलते ज्यादातर जमीन जमींदारों के नाम दर्ज हो गई और खेतिहर किसानों की कठिनाई बढ़ गई। नतीजतन 1947 के आसपास खेती लायक अधिकांश जमीन तरह तरह के जमींदारों के कब्जे में थी जिनमें सबसे महत्वपूर्ण किस्म अनुपस्थित जमींदारों की थी। कई सूदखोर भी जमींदार हो गए। बड़े जमींदारों के हाथों में जमीन का संकेंद्रण भी दिखाई पड़ा। उदाहरण के लिए संयुक्त प्रांत में 1930 दशक के दौरान केवल 1.5 प्रतिशत जमींदारों के कब्जे में 58 प्रतिशत जमीन थी। बंगाल प्रांत में 13.8 प्रतिशत जमींदारों के कब्जे में 39.3 प्रतिशत जमीन थी और औसतन प्रत्येक जमींदारी का रकबा 1228 एकड़ था। ग्रामीण क्षेत्रों में एक और बदलाव यह हुआ कि सूदखोरों की पकड़ बढ़ती गई और वह अधिशेष के औपनिवेशिक शोषण की जरूरी कड़ी बन गया। सूदखोर इस बात की गारंटी करता था कि औपनिवेशिक सरकार को समय से राजस्व प्राप्त हो जाए भले ही किसानों को अपनी जिंदगी का ज्यादातर समय कर्ज में डूबे रहना पड़ता था। सूदखोर वाणिज्यिक फसलों की खेती और उनके निर्यात के लिए भी धन उधार देते थे। कई जमींदार भी सूदखोरी करते थे। इस तरह औपनिवेशिक काल में जमींदार और सूदखोर दोनों ही ताकतवर हुए और किसान अपनी वाणिज्यिक फसल बेचकर जो भी लाभ कमा सकता था उसे चूस लेते थे। इन बदलावों के चलते किसान समुदाय के भीतर विभेदीकरण हुआ और उनमें से अधिकांश दरिद्रता के शिकार हो गए। ग्रामीण आबादी का केवल 29 प्रतिशत ऐसा था जिसके पास जमीन थी जबकि लगभग 60 प्रतिशत अस्थायी पट्टेदार, बटाईदार और कृषि मजदूर थे (बिपन चंद्र 1976: 3-7)।

इन सबके चलते किसानों के मन में सूदखोरों, जमींदारों और अंग्रेजी शासन के प्रति विक्षोभ बढ़ता जा रहा था। प्रतिरोध और विद्रोह तो अंग्रेजी शासन की शुरुआत से ही जारी थे।

राष्ट्रवादी आंदोलन के उदय ने उनकी शिकायतों को आवाज देने के नए अवसर मुहैया कराए।

25.4 किसान समुदाय और आरंभिक राष्ट्रवाद

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के दौरान 1857 के विद्रोह के बाद मध्य वर्ग का किसानों की समस्याओं और किसानों के आंदोलन के साथ जुड़ाव दिखाई पड़ने लगे। ये लोग किसानों और औपनिवेशिक प्रशासन के बीच महत्वपूर्ण मध्यस्थ के रूप में रहे। कभी कभी उन्होंने किसान आंदोलनों के नेता की भूमिका भी निभाई। ऐसा शुरुआती किसान आंदोलन जिसके साथ मध्यवर्गीय राष्ट्रवादी-बोध वाले बौद्धिक समूह का भी जुड़ाव था 1859-60 का नील विद्रोह था। बंगाल के कई हिस्सों के किसानों ने यूरोपीय मालिकों के लिए नील की खेती करने से इनकार कर दिया जबकि ये यूरोपीय नील की खेती करने के लिए किसानों को मजबूर कर रहे थे। बंगाली बौद्धिक समुदाय ने भारतीय जनता के सामने यह मुद्दा रखा। 1860 में दीनबंधु मित्र के नाटक *नील दर्पण* ने निलहा अंग्रेज साहबों के दमन और किसानों के विद्रोह का चित्रण किया। बांबे प्रेसिडेन्सी में पूना सार्वजनिक सभा ने किसानों की तकलीफ के साथ अपने को सबसे पहले जोड़ा जब उसने अपनी प्रेसिडेन्सी में किसानों के मामलों को उठाया। किसानों ने इसके पूना निवासी नेताओं मसलन गोपाल कृष्ण गोखले से सहायता और दिशा-निर्देश की मांग की। इन नेताओं ने याचिकाओं और ज्ञापनों को तैयार करने में किसानों की मदद की और इस तरह उनकी समस्याओं को बेहतर तरीके से व्यक्त किया। 1907 में पंजाब में चिनाब नहर कालोनी में किसानों ने खतरनाक औपनिवेशिक कानूनों के विरुद्ध आंदोलन संगठित किया जो कानून जमीन की विरासत में हस्तक्षेप कर रहे थे। लाहौर इंडियन एसोसिएशन के लाजपत राय और अजीत सिंह इस आंदोलन के नेता थे। किसानों ने टैक्स का भुगतान रोक लिया और कई जगहों पर जुझारू प्रदर्शन हुए। देश के अन्य हिस्सों में भी राष्ट्रवादी बौद्धिकों के कुछ जुड़ाव के साथ किसानों के इसी तरह के सरकार-विरोधी प्रदर्शन हुए।

शुरुआती दौर में राष्ट्रवादी नेता और कांग्रेस किसानों की समस्याओं से पूरी तरह वाकिफ थे और उनके लिए औपनिवेशिक प्रशासन को जिम्मेदार ठहराते थे। वे अंग्रेजों की किसानों पर राजस्व का भारी बोझ डालने के लिए आलोचना करते थे। उन्होंने सरकार से किसानों का राजस्व घटाने की मांग की और अनुरोध किया कि राजस्व को स्थायी तौर पर तय कर दिया जाए और उसे समय समय पर बढ़ाया न जाए। किसानों की बढ़ती गरीबी और बार बार के अकाल के लिए उन्होंने सरकार की राजस्व नीतियों को जिम्मेदार ठहराकर सरकार पर आरोप लगाया। दादाभाई नौरोजी, आर सी दत्त, दिनशा वाचा, जी के गोखले, बी जी तिलक और कई अन्य राष्ट्रवादियों ने किसानों को कष्ट देने वाले सवालों को उठाया। कई प्रस्तावों में कांग्रेस ने किसानों की तकलीफ की समस्या को उठाया।

बहरहाल कांग्रेस ने जमींदारी वाले इलाकों में लगान और समयावधि को स्थायी रूप से तय करने की मांग की उपेक्षा की। शुरुआती दौर में कांग्रेस ने इस तथ्य पर भी ध्यान नहीं दिया कि जिन किसानों के लिए वह मालिकाना हक मांग रही है वे सभी खेती नहीं करते। इस तरह आम तौर पर कांग्रेस मजबूत जमींदार विरोधी और किसान समर्थक रुख अपनाने में असफल रही। बंगाल में एक और प्रवृत्ति सामने आ रही थी। वहां कई इलाकों के किसान आंदोलनों में मुस्लिम किसानों की बहुसंख्या शरीक थी और वे धीरे धीरे मध्यवर्गीय राष्ट्रवादियों से अलग होते जा रहे थे क्योंकि उन्होंने जमींदार समर्थक नजरिया अपनाया। इसी तरह पंजाब में कांग्रेस ने किसानों का पक्ष नहीं लिया जब सूदखोरों और अन्य गैर-खेतिहर वर्गों के हाथ में जमीन चले जाने का मामला सामने आया।

इस तरह हालांकि आरंभिक राष्ट्रवादी किसानों को लेकर चिंतित तो बहुत रहते थे लेकिन राष्ट्रवादी आंदोलन में उन्हें शामिल करने में उन्हें कोई विशेष रुचि नहीं थी। नरमपंथी नेताओं की राजनीति जन समुदाय को आकर्षित करने या उन्हें शरीक करने पर आधारित नहीं थी और गरमपंथियों का आकर्षण शहरी जनता तक सीमित था।

25.5 जन राष्ट्रवाद और किसान

1918 से जन राष्ट्रवाद का जो दौर शुरू हुआ उसमें कांग्रेस और किसानों के बीच घनिष्ठ रिश्ता बना। उसके बाद से कांग्रेस और अन्य राष्ट्रवादी नेता तरह तरह से किसानों के साथ अधिकाधिक संलग्न होने लगे। इस अनुभाग में हम इस सहयोग के विभिन्न आयामों की चर्चा करेंगे।

25.5.1 गांधी और किसान

गांधी के परिदृश्य पर उभरने से पहले कांग्रेस की राजनीति में किसान बहुत शरीक नहीं होते थे। गांधी की सक्रिय भागीदारी ने किसानों के साथ राष्ट्रवाद के रिश्ते को पूरी तरह से बदल दिया। अब किसानों को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ने का असली काम शुरू हुआ जिसने संवैधानिकता की जगह जन राजनीति को राष्ट्रवादी आंदोलन के केंद्र में ला दिया। गांधी मानते थे कि किसान बहुत ही महत्वपूर्ण शक्ति है जिसे गोलबंद करना जरूरी है अगर कांग्रेस को औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध लड़ना है। बिहार में चंपारण और गुजरात में खेड़ा ने वह जगह दी जहां से गांधी की किसान समर्थक विचारधारा का प्रसार हुआ, उन्हें जनता के नेता के रूप में स्थापित कर दिया और किसानों के साथ राष्ट्रवादी आंदोलन को जोड़ दिया। चंपारण में किसान उन प्लांटर्स के विरुद्ध आंदोलन कर रहे थे जो किसानों को न केवल शोषणकारी तीनकटिया प्रणाली (जिसके तहत किसान को उसकी कुल जमीन के 3/20वें भाग में नील की खेती के लिए मजबूर किया जाता था) के द्वारा किसानों को नील उगाने के लिए मजबूर करते थे बल्कि नील की जो कीमत देते थे वह अनाज की फसल से भी कम होती थी। किसानों के एक नेता राज कुमार सुकुल ने गांधी समेत तमाम राष्ट्रवादी नेताओं से संपर्क किया और आकर किसानों की समस्याओं को देखने का अनुरोध किया। थोड़ी हिचक के बाद गांधी आंदोलन का नेतृत्व करने को राजी हो गए। किसानों ने उत्साह के साथ जवाब दिया और ब्रिटिश सत्ता की अवहेलना की जिसके चलते उस इलाके में भारी गोलबंदी हुई। हिंसा की वारदातें हुईं और कुछ स्थानीय जमींदारों पर भी हमले हुए। गांधी और कांग्रेस ने इन कार्यवाहियों का अनुमोदन नहीं किया। इसके बावजूद किसानों ने गांधी और कांग्रेस में विश्वास जताया और बाद में भी यह इलाका राष्ट्रवादी गोलबंदी का गढ़ बना रहा। गांधी के हस्तक्षेप से बदनाम तीनकटिया प्रणाली का खात्मा हुआ और उन्होंने किसानों द्वारा प्लांटर्स को दिए जाने वाले लगान को तय करने में मदद की। चंपारण में गांधी की सफलता को महत्वपूर्ण विजय के बतौर देखा गया जिसके कारण वे राष्ट्रीय स्तर पर तुरंत मशहूर हो गए।

इसी तरह खेड़ा में 1918 में स्थानीय किसान नेताओं के अनुरोध पर गांधी ने लगानबंदी के लिए किसानों के आंदोलन का समर्थन करने का फैसला किया। ज्यादातर पाटीदार जाति से जुड़े हुए स्थानीय किसान जमीन की लगान वसूली के अत्यधिक कठोर तरीके से बहुत असंतुष्ट थे। 1918 में घनघोर बारिश के चलते किसानों की लगभग 25 प्रतिशत फसल बरबाद हो गई थी। वे चाहते थे कि जमीन की लगान की वसूली स्थगित रहे। उन्होंने सरकार को कई अर्जियां दीं। लेकिन सरकार तय समय पर बकाया लगान वसूलने के लिए कटिबद्ध थी। किसानों ने जमीन की लगान का भुगतान रोकने का फैसला करके इस अन्याय से लड़ने का आंदोलन शुरू किया। गांधी ने उनकी जायज मांग का समर्थन किया।

हालांकि संघर्ष सफल नहीं हुआ लेकिन सरकार कम से कम इस बात के लिए राजी हो गई कि लगान न चुकाने वाले किसानों की संपत्ति जब्त नहीं की जाएगी। यह इलाका भी आगामी बहुत दिनों के लिए राष्ट्रवादी आधार बना रहा। इन दोनों आंदोलनों में समर्थन और नेतृत्व के लिए गांधी और अन्य राष्ट्रवादियों से संपर्क करने से पहले से किसान खुद संघर्ष शुरू कर चुके थे। किसानों की गोलबंदी बहुत हद तक कांग्रेस से स्वतंत्र थी। बहरहाल ब्रिटिश शासन के विरुद्ध परवर्ती राष्ट्रवादी आंदोलनों में ये इलाके मजबूत राष्ट्रवादी किले साबित हुए।

बारदोली में 1921 से 1927 के बीच राष्ट्रवादी नेतृत्व ने स्थानीय किसान असंतोष के साथ राष्ट्रवाद की व्यापक समस्या को जोड़कर आदर्श किसान आंदोलन खड़ा करने का बीड़ा उठाया। मसला था जमीनी हालत पर कोई ध्यान दिए बिना जमीन की लगान को समयबद्ध तरीके से बढ़ाते जाना। 1925-26 में होने वाली ऐसी ही बढ़ोत्तरी के विरुद्ध इस इलाके के किसान आंदोलन शुरू कर चुके थे। सरकार ने आंदोलन पर ध्यान नहीं दिया और राजस्व की मांग बढ़ा दी। इस मनमानी बढ़ोत्तरी के विरुद्ध किसानों ने राष्ट्रवादी नेताओं की राय से 1927 में पूरी तरह से लगानबंदी लागू करने का फैसला किया। इसी से मशहूर बारदोली आंदोलन की शुरुआत हुई। राष्ट्रवादी नेताओं ने आंदोलन का पूरी तरह से समर्थन किया और क्षेत्र के गांधी आश्रमों ने किसानों को गोलबंद करने और आंदोलन को टिकाए रखने में मदद की। सरकार ने जबर्दस्ती समूची लगान वसूलने की कोशिश की लेकिन ऐसा करने में असफल रही। आखिरकार एक समझौता हुआ और राजस्व की मांग घटा दी गई।

गांधी इस बात को साफ समझते थे कि राष्ट्रवादी आंदोलन में किसानों की भागीदारी जरूरी है अगर कांग्रेस देश के प्रतिनिधित्व का दावा करती है और अंग्रेजी राज के विरुद्ध सफलता के साथ लड़ना चाहती है। इसीलिए उन्होंने किसानों को राष्ट्रीय आंदोलन के घरे में लाने की कोशिश ईमानदारी से की और इसके लिए अपने रचनात्मक कार्यक्रम, ग्रामोद्धार, चरखा और स्वदेशी का प्रचार किया। लेकिन उनकी निगाह में समूचा देश था और वे भारतीय समाज के किसी भी हिस्से को अलगाव में नहीं डालना चाहते थे। इसलिए उन्होंने परिश्रमपूर्वक कोई भी ऐसा विवादास्पद मुद्दा उठाने से परहेज किया जो किसानों और उनके तात्कालिक उत्पीड़कों, जैसे सूदखोरों और जमींदारों के बीच फांक पैदा करता। गांधी किसानों और जमींदारों या किसानों और खेत मजदूरों के बीच कोई वर्गीय टकराव पैदा नहीं करना चाहते थे या उसका समर्थन भी नहीं करना चाहते थे बल्कि वे ऐसे किसी भी तबके को अलगाव में नहीं डालना चाहते थे जिसकी मांगें कांग्रेस ने नहीं उठाईं। हालांकि कांग्रेस का मुख्य समर्थक आधार धनी और मध्य किसानों में था लेकिन गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों की बढौलत कांग्रेस को जातिगत विभाजन के आर पार गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों के बीच भी राष्ट्रवादी संदेश को प्रसारित करने में मदद मिली। कई गांवों में राष्ट्रवादी संगठन के बतौर गांधी पंचायतों का निर्माण हुआ ताकि शराब तथा नशे की लत छुड़ाने और खादी जैसे गांधीवादी विचारों का प्रचार हो। उन्होंने कई बार ग्रामीणों से मांसाहार से दूर रहने को भी कहा। इन पंचायतों के मुखिया निचली जातियों समेत किसी भी जाति के लोग हो सकते थे। संयुक्त प्रान्त के गोरखपुर जिले के एक गांव की गांधी पंचायत ने गांव के धनी मानी ऊंची जाति के बोलबाले वाले मुखिया को पदच्युत कर दिया और कई निचली जाति के लोगों ने उसके परिवार को सामान और सेवा देने से इनकार कर दिया क्योंकि ऐसा करना राष्ट्र विरोधी आचरण समझा गया।

महात्मा और उनके संदेश को किसानों ने राजनीतिक रूप से अपनाया और जमींदारों तथा औपनिवेशिक राज्य से लड़ने के लिए उनकी तरह तरह से व्याख्या की। स्थानीय अखबारों ने भी महात्मा की छवि बनाने तथा उनके तथामान्य संदेश को प्रसारित करने में योगदान किया। किसानों द्वारा गांधी के संदेश को व्याख्यायित करने और अपनाने की प्रक्रिया में

अफवाहों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। किसानों की निगाह में गांधी ऐसे प्रतीक बन गए जो जमींदारों, सूदखोरों और औपनिवेशिक राज्य के दमन से आजादी और न्याय का प्रतिनिधित्व करता था। वे अपनी हिंसक गतिविधियों को भी गांधी और अन्याय से लड़ने के उनके आवाहन के नाम पर सही ठहराते थे।

25.5.2 असहयोग के दौरान किसान आंदोलन

औपनिवेशिक राज्य और उसके पिछलग्गू जमींदारों की नीतियों और कार्यवाहियों के चलते किसानों में विक्षोभ बढ़ता जा रहा था। विश्व युद्ध के प्रभाव से आम भारतीय जनता पर दबाव और बढ़ गया। विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में बढ़ोत्तरी, और परिवहन तथा जहाजरानी की समस्याओं के चलते नमक, सूती वस्त्रों और किरासन तेल की ऊंची कीमत ने किसानों की हालत खस्ता कर दी। 1918 में मानसून न आने से भयानक अकाल पड़ गया। तरह तरह की बीमारियों का भी हमला हुआ जिससे बड़े पैमाने पर मौतें हुईं। बड़े शहरों में रोजगार के अवसर समाप्त होने से जमीन पर दबाव बढ़ गया और इसके चलते आम किसान की गरीबी में भी इजाफा हुआ। लगान में मनमानी बढ़ोत्तरी, जमीन से बेदखली, जबरिया बेगारी, जमींदारों द्वारा थोपे हुए कई अन्य किस्म के टैक्स, और भांति भांति के उत्पीड़न ने शोषणकारी हालात बना दिए।

संयुक्त प्रांत में स्थिति बहुत बुरी थी। तालुकदारों को सहयोगी बनाने के लिए औपनिवेशिक राज्य द्वारा उन्हें अपार शक्तियां प्रदान कर दी गईं। ये बड़े जमींदार बटाइदारों की मनमाना बेदखली करते, गैर कानूनी टैक्स वसूलते, तथा बहुत अधिक लगान लगाते थे। 1918 में कुछ होम रूल सदस्यों ने किसानों को संगठित करने के लिए किसान सभाओं का निर्माण किया। 1919 आते आते प्रांत भर में इस सभा की लगभग 450 शाखाएं चलने लगीं। थोड़े दिनों बाद संयुक्त प्रांत में कांग्रेस भी किसानों में सक्रिय हो गई।

अवध इलाके में बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में एक शक्तिशाली किसान आंदोलन विकसित हुआ। जब बाबा रामचंद्र की गिरफ्तारी हुई और कांग्रेसी नेतागण, खासकर जवाहरलाल नेहरू इसमें कूद पड़े तो इस आंदोलन में तेजी आई। बाबा रामचंद्र की रिहाई के लिए महात्मा गांधी के आगमन की अफवाह के चलते दसियों हजार किसानों को सड़कों पर उतार दिया। ऐसी स्थिति में असहयोग आंदोलन ने किसानों को अपनी तकलीफों को स्वर देने और अपने आंदोलन को राष्ट्रवादी मुख्यधारा के साथ जोड़ने का एक मौका दिया। औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध राष्ट्रवादी संघर्ष ने कई क्षेत्रों में किसानों और उनके नेताओं को भी अपनी तकलीफों को खुलकर अभिव्यक्त करने की प्रेरणा दी। बहरहाल मदन मोहन मालवीय जैसे कुछ आरंभिक नेताओं ने संवैधानिक रास्ते से ही चिपके रहना पसंद किया। इसके कारण कांग्रेस और असहयोगियों ने 1920 में अपनी अवध किसान सभा बनाई जिससे 330 किसान सभाएं संबद्ध थीं। किसानों से बेगार नहीं करने के लिए कहा गया और उन जमीनों पर खेती न करने की प्रार्थना की गई जिससे किसी बटाइदार को बेदखल किया गया हो। कांग्रेस के साथ किसान आंदोलन के जुड़ाव ने 1918 के बाद से देश के कई हिस्सों में मजबूत किसान सभा आंदोलन को जन्म दिया। कांग्रेस के समर्थन को किसानों ने अपनी तरह से व्याख्यायित किया जो अक्सर कांग्रेस की आधिकारिक राय के विरुद्ध होता। उदाहरण के लिए सरकार को टैक्स न देना और जमींदारों के लिए लगानबंदी पर किसानों का जोर, किसानों की मांगों का विरोध करनेवालों का बहिष्कार, और अपनी धमक सुनाने के लिए कभी कभी हिंसा का इस्तेमाल— ये सब कांग्रेस के उच्च नेतृत्व को नागवार गुजरता था। 1921 में यू पी के कुछ जिलों में तीखा किसान आंदोलन हुआ जिसमें जमींदारों की फसलें जला दी गईं, जमींदारों के लठैतों और पुलिस पर हमला हुआ और कुछ बाजार लूट लिए गए। मदारी पासी के नेतृत्व में बाराबंकी में एक आंदोलन ने अपने हिंसक तरीकों से कांग्रेस को

चौका दिया। ऐसी क्रांतिकारी प्रवृत्तियां कांग्रेस की आधिकारिक अहिंसक नीति के मेल में नहीं थीं जिनके चलते कांग्रेसी नेता पीछे हट गए।

यू पी में जवाहरलाल नेहरू, गुजरात में बल्लभभाई पटेल और बिहार में राजेंद्र प्रसाद जैसे कांग्रेसी नेताओं की मौजूदगी ने किसानों और उनके नेताओं को उनके अपने आंदोलन के लिए अत्यावश्यक प्रोत्साहन दिया। किसानों और उनके स्थानीय नेताओं ने कांग्रेस के भीतर एक अखिल भारतीय संगठन की मांग की जो उनकी तकलीफों को सुनता और औपनिवेशिक अधिकारियों के सामने उनकी मांगें प्रस्तुत करता। दूसरी ओर किसानों के समर्थन ने कांग्रेस को जनता की पार्टी होने की वह अत्यावश्यक वैधता प्रदान की जिससे वह मुट्ठी भर ऊपरी और मध्य वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले की बजाए सारे भारतीयों का प्रतिनिधित्व करती हुई नजर आए।

गांधीवादी राष्ट्रवाद ने आदिवासी जनता को भी कई तरह से आकर्षित किया। इसका विस्तार हिंसक विरोध (जैसे आंध्र प्रदेश में सीताराम राजु के नेतृत्व में गुडेम पर्वतमाला में या बट्टीदत्त पांडे के नेतृत्व में कुमाऊं और गढ़वाल में) से लेकर शाकाहार और शराबबंदी को अपनाने जैसे जीवन शैली में सचेत बदलावों तक था। सीताराम राजु के नेतृत्व में विद्रोह जंगल कानूनों और सूदखोरों के विरुद्ध 1924 तक चलता रहा। राजस्थान में सामंतवाद विरोधी किसान आंदोलन 1920 के दशक में बहुत सक्रिय था। मोतीलाल तेजावत और अन्य लोगों ने जबरिया बेगार और गैर कानूनी लगान के विरुद्ध भील आंदोलन का नेतृत्व किया। सभी जगहों पर प्रवृत्ति यह थी कि स्थानीय आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ा जाए चाहे कांग्रेसी नेतृत्व उस आंदोलन का समर्थन करे या न करे। जैसा कि शाहिद अमीन और अन्य इतिहासकारों ने कहा है गांधीवादी संदेश की व्याख्या किसान अपने तरीके से करते थे जिसकी संगति कांग्रेस की आधिकारिक नीतियों से नहीं भी हो सकती थी।

कांग्रेस के कई मध्यवर्ती और ऊपरी स्तर के नेताओं ने यह रणनीति अपनाई कि किसान गोलबंदियों को जुझारू रास्ता अपनाने न दिया जाए और उन्हें राष्ट्रवादी उद्देश्य की सेवा में लगा लिया जाए। अवध में 1918-20 के दौरान बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में चले जुझारू किसान आंदोलन को कांग्रेस द्वारा राष्ट्रवादी लक्ष्य के लिए नरम बनाया गया और उसे नियंत्रित किया गया और सो भी किसानों की तकलीफों को पूरी तरह से दूर किए बगैर। इसी तरह बिहार में कांग्रेसी नेतृत्व ने स्वामी विश्वानंद जैसे जुझारू किसान नेताओं पर रोक लगाने तथा किसानों को राष्ट्रवादी आंदोलन के नजदीक लाने की दोहरी रणनीति अपनाई। गुजरात के खेड़ा जिले में किसान आंदोलन को राष्ट्रवादी संघर्ष में समाहित कर लिया गया। आंध्र प्रदेश और उड़ीसा में भी मजबूत किसान आंदोलनों को कांग्रेस ने उनके जुझारूपन पर काबू पाते हुए उन्हें अधिग्रहित कर लिया।

कुछ इलाकों में जैसे गुजरात और बंगाल के एक हिस्से में कांग्रेस किसान आंदोलनों को नियंत्रित करने और उस समय के अपने कार्यक्रम के अनुरूप वांछित दिशा में ले जाने में सक्षम रही। कुछ अन्य क्षेत्रों में, मसलन संयुक्त प्रांत के कुछ इलाकों में, किसान आंदोलन जुझारू हो गए। ऐसे मामलों में कांग्रेस ने उनके साथ और अधिक संबंध नहीं रखा जिससे शायद औपनिवेशिक शासकों को उनका दमन करने में आसानी हुई। गोरखपुर में जब किसान आंदोलन हिंसक हो उठा, बाजार लूट लिया गया तथा 1922 में चौरी चौरा में कई पुलिसवाले मारे गए तो गांधी ने असहयोग आंदोलन वापस लेने का फैसला कर लिया।

बंगाल और पंजाब में 1920 के दशक के उत्तरार्ध के दौरान कांग्रेस ने बहुसंख्यक मुस्लिम किसानों की मांगें नहीं उठाईं। बिहार में भी जमींदारों के विरुद्ध संघर्षरत किसानों को पूरा समर्थन देने में कांग्रेस टाल मटोल करती रही। मालाबार में 1921 में औपनिवेशिक राज्य तथा राज्य-समर्थित जमींदारों के विरोध में मजबूत किसान आंदोलन खड़ा हुआ। शुरु में इसे

कांग्रेस और खिलाफत के नेताओं का समर्थन मिला। आंदोलन अहिंसक नहीं रहा और किसानों ने जमींदारों और सरकार की संपत्ति पर हमला बोला। सरकारी दमन के चलते आंदोलन में धार्मिक विचारधारा का जोर बढ़ा और उसमें सांप्रदायिक पहलू उभार पर आ गया। कांग्रेस ने आंदोलन से हाथ खींच लिया और भारी राज्य दमन से इसे कुचल दिया गया जिसके तहत भारी संख्या में मौतें और गिरफ्तारियां हुईं।

बहरहाल रैयतवाड़ी इलाकों में राजस्व में बढ़ोत्तरी के विरुद्ध किसानों की मांगों को कांग्रेस ने अधिक जोरदार तरीके से उठाया। गुजरात के बारदोली तालुका में वल्लभभाई पटेल और कुंवरजी तथा कल्याणजी मेहता जैसे कांग्रेसी नेताओं ने 1927 में सरकार द्वारा राजस्व में बढ़ोत्तरी की मांग के विरोध में किसानों को गोलबंद किया। तटीय आंध्र में 1927 में औपनिवेशिक सरकार द्वारा राजस्व बढ़ाने की कोशिश का किसानों ने तगड़ा प्रतिरोध किया जो कांग्रेस के नेतृत्व में एक मजबूत आंदोलन के बतौर विकसित हुआ।

25.5.3 1930 के दशक के दौरान किसान आंदोलन

सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान राष्ट्रवादी आंदोलन में किसानों की और भी बड़े पैमाने पर तथा अधिक सचेत हिस्सेदारी दिखाई पड़ी। साइमन कमीशन विरोधी प्रदर्शनों से माहौल में राजनीतिक गरमी थी जो 1929 में वैश्विक महामंदी से और गहरा गई। किसान अपने उत्पादों की गिरती कीमत से उत्तेजित थे जबकि लगान, राजस्व, टैक्स और कर्ज का ब्याज उन्हें मंदी से पहले की दर से ही अदा करना पड़ रहा था। ऐसे माहौल में सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत के चलते भारी संख्या में किसान राष्ट्रवादी आंदोलन में खिंच आए। किसान नेताओं ने देश के कई भागों में लगानबंदी अभियान शुरू किया। कांग्रेस के भीतर उभरते हुए वाम झुकाव ने भी किसान आंदोलनों को प्रभावित किया। कांग्रेस के वाम पक्ष से क्रांतिकारी नेताओं की एक नई पीढ़ी सामने आई। वे और कम्युनिस्ट इसके बाद से देश भर में किसान आंदोलनों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े रहे। सहजानंद, एन जी रंगा, सोहन सिंह जोश, इंदुलाल याज्ञिक, जयप्रकाश नारायण, मोहनलाल गौतम, कमल सरकार, अहमद दीन और कई अन्य नेता किसानों की गोलबंदी के लिए महत्वपूर्ण हो गए।

यू पी में 1930 के दशक में बेदखली, लगान में बढ़ोत्तरी और जबरन बेगार के विरुद्ध मजबूत किसान आंदोलन विकसित हुए। गांधी ने किसानों को सलाह दी कि वे लगान का एक हिस्सा चुका दें और कांग्रेस के स्थानीय दफ्तरों में अपनी शिकायतें लिख भेजें। किसानों ने अपने तरीके से गांधी के संदेश की तरह तरह से व्याख्या की और कई मामलों में जमींदारों को सब कुछ देना बंद कर दिया। स्थानीय नेताओं ने गांधी के नाम पर जमींदारों के विरुद्ध जुझारू कार्यवाहियां कीं। किसानों की तकलीफों का संज्ञान लेते हुए 1931 में कांग्रेसी नेतृत्व ने यू पी के कुछ जिलों में लगान न चुकाने का अधिकार दे दिया। 1936 में यू पी के कांग्रेसी नेताओं ने जमींदारी उन्मूलन का समर्थन किया।

देश के अन्य हिस्सों में भी शक्तिशाली किसान आंदोलन उठ खड़े हुए। बंगाल में नहर टैक्स के विरोध में बर्दवान के किसानों का नेतृत्व बंकिम मुखर्जी ने किया। उड़ीसा में ब्रिटिश भारत और रियासतों में मजबूत किसान आंदोलन विकसित हुआ। पंजाब में राजस्व, जमीन की हदबंदी और गैर कानूनी वसूली से जुड़े हुए कई मुद्दों पर बहुत ही शक्तिशाली और संगठित किसान आंदोलन उठ खड़ा हुआ। इसके अलावे बड़े पैमाने पर नमक बनाकर उपनिवेशवाद का विरोध भी किया गया। विदेशी वस्तुओं और शराब का बहिष्कार पहले के अभियानों की तरह इस बार भी किया गया। कांग्रेस और किसानों पर औपनिवेशिक राज्य के भारी दमन के चलते कई इलाकों में भागीदारी में कमी भी आई। इसके साथ ही छोटे किसानों ने लगानबंदी की शुरुआत की और आदिवासी इलाकों में जंगल कानूनों के विरोध में अभियान

चलाए गए। इन आंदोलनों में क्रांतिकारी हो जाने की प्रवृत्ति थी जिससे कांग्रेस सभी वर्गों के भारतीयों के बीच व्यापक एकता के चक्कर में बचना चाहती थी।

बहरहाल ऐसी एकता हासिल करना आसान नहीं था क्योंकि औपनिवेशिक सरकार के प्रोत्साहन से जमींदार किसानों से गैर कानूनी वसूलियों के लिए दबाव डालते थे। बिहार में सहजानंद ने बटाइदारों के मौरूसी हक की रक्षा के लिए आंदोलन शुरू किया और 1929 में बिहार प्रदेश किसान सभा का गठन किया। 1930 दशक के पूर्वार्ध में समाजवादियों के प्रभाव में किसान सभा ने क्रांतिकारी मांगें उठाईं और किसानों का व्यापक मोर्चा बनाया। आंध्र में एन जी रंगा ने भी किसानों को गोलबंद किया और किसान सभा बनाई। किसान सभा आंदोलन देश के अन्य इलाकों में भी फैला और इसने जमींदारी उन्मूलन की मांग उठाई। 1936 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में सहजानंद की अध्यक्षता में आल इंडिया किसान सभा का निर्माण हुआ। इसने बाद में एक किसान घोषणापत्र जारी किया जिसमें जमींदारी उन्मूलन और सभी बटाइदारों के मौरूसी हक की मांग की गई थी। दिसंबर 1936 में समाजवादी सदस्यों और नेताओं के दबाव में कांग्रेस ने कृषि कार्यक्रम स्वीकार किया। किसान सभाओं की गोलबंदियों से कांग्रेस के लिए जो व्यापक आधार बना था उसी के कारण 1937 के चुनावों में कांग्रेस को भारी विजय मिली।

1937 में कई प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन ने किसानों और उनके नेताओं को नई ऊर्जा से भर दिया और उनकी आकांक्षा बढ़ा दी। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपने शासन के सभी प्रांतों में ब्याज की दर तय करके, लगान की बढ़ोत्तरी पर लगाम लगाकर, यू पी में कई किसानों को मौरूसी बटाइदार का दर्जा देकर, बिहार में बकाशत की जमीन आंशिक रूप से बटाइदार को लौटाकर, महाराष्ट्र में भूमिधरों के खोती बटाइदारों को कुछ अधिकार देकर, और जंगल की जमीन पर चरागाह शुल्क खत्म करके कर्ज के बोझ को कम करने के लिए कुछ उपाय किए। बहरहाल कई अन्य मुद्दे ऐसे थे जिन पर किसान नेताओं को लगता था कि कांग्रेस किसानों की तकलीफों पर ध्यान नहीं दे रही है या अपने वादे से मुकर रही है।

किसान सभाओं का शुरू में मकसद किसानों और जमींदारों के बीच आपसी समझदारी बनाना था। बहरहाल जमींदारों के हठी और दमनकारी रुख के चलते किसान सभाओं को जुझारू रवैया अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। लेकिन उन्होंने कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम के पक्ष में किसानों के बीच राष्ट्रवादी विचारधारा का प्रचार जारी रखा। लेकिन कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेता वामपंथ का वर्चस्व नहीं चाहते थे और उन्होंने किसानों के जुझारूपन को रोकने की भी कोशिश की। दूसरी ओर किसानों को उम्मीद थी कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल उनकी मांगों को पूरा करेंगे। कुछ इलाकों जैसे बिहार में उनके आंदोलन तेज भी हो गए। लेकिन बिहार में कांग्रेसी सरकार ने जमींदार-समर्थक रवैया अपनाया जिसके कारण किसान नेताओं को बिहार किसान सभा के झंडे के नीचे बकाशत जमीन की वापसी के लिए भारी आंदोलन चलाना पड़ा। जमींदारों को खतरा महसूस हुआ और उन्होंने प्रांतीय सरकार से गुहार लगाई। आखिरकार जमींदारों के लठैतों और पुलिस ने आंदोलन को दबा दिया। बिहार कांग्रेस ने किसान सभा और उसके लड़ाकूपन से अपने को अलग कर लिया। आखिरकार, कुछ रियायतों, समझौतों, और पुलिस तथा जमींदारों के दमन के फलस्वरूप आंदोलन खत्म हो गया।

कुछ अन्य प्रांतों में भी कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का अनुदार रवैया जाहिर हो रहा था और किसानों की मूलगामी मांगों पर रोक लगाई जा रही थी, जमींदारों के हितों की रक्षा की जा रही थी, और किसान सभा की गतिविधियों पर अंकुश लगाया जा रहा था। फरवरी 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में कांग्रेसी सदस्यों को किसान सभाओं का सदस्य होने से मना कर दिया गया। कांग्रेसी नेताओं ने तब भी हस्तक्षेप नहीं किया जब किसानों पर देशी रियासतों में भयंकर दमन हो रहा था। (बिपन चंद्र तथा अन्य 1988: 197-209 और 343-50; सुमित सरकार 1983: 239-42, 274-78, 315-16; एस बंधोपाध्याय 2004: 407-10)।

25.5.4 1940 के दशक के दौरान राष्ट्रवाद और किसान

भारत छोड़ो आंदोलन नेतृत्व की अनुपस्थिति में शुरू हुआ। कांग्रेस का लगभग समूचा केंद्रीय नेतृत्व गिरफ्तार था, और दूसरे नेता भी भूमिगत होने के लिए बाध्य हो गए थे। स्थानीय नेता पैदा हो गए थे जिन्होंने किसानों को पुलिस स्टेशन, खजाना, रेलवे स्टेशन, पोस्ट आफिस, और बिजली के खंभों जैसे सरकारी संपत्ति पर हमला करने के लिए प्रेरित किया। यूरोपीय लोगों पर हमले हुए और कभी कभी उन्हें सार्वजनिक रूप से मार डाला गया। जातिगत विभाजन से ऊपर उठकर सभी तबकों के किसानों और कई जमींदारों ने भी आंदोलन का समर्थन किया क्योंकि उन्हें यकीन हो गया था कि अंग्रेजी राज खत्म होने वाला है। गांवों में औपनिवेशिक शासन के प्रतीकों को बरबाद करने में किसानों और खेत मजदूरों ने हिस्सा लिया और अपना राज स्थापित कर लिया। बिहार, यू पी, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और देश के अन्य कई भागों में औपनिवेशिक शासन के विरोध में मजदूरों और मध्य वर्ग के साथ किसान भी उठ खड़े हुए। विद्यार्थी वालंटियरों ने आंदोलनों को संगठित करने और हमलों की अगुवाई करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यू पी के बलिया जिले तथा उड़ीसा और महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों में अंग्रेजी शासन से मुक्ति की घोषणा कर दी गई और कुछ दिनों के लिए नई सरकारें स्थापित हुईं।

1940 दशक के उत्तरार्ध में कुछ किसान आंदोलन बेहद जुझारू और क्रांतिकारी हो उठे। कम्युनिस्टों के नेतृत्ववाली बंगाल किसान सभा ने 1946 के व्यापक तैभागा आंदोलन के लिए जमीन तैयार की। यह आंदोलन लगभग एक वर्ष तक चला जिसके बाद सरकार और जमींदारों ने इसे कुचल दिया। हैदराबाद निजाम की रियासत थी जहां कम्युनिस्टों ने जमींदारों और निजाम के विरुद्ध एक लंबा, दीर्घकालीन किसान विद्रोह संचालित किया। इसे तेलंगाना आंदोलन कहा गया और 1946 के मध्य में इसकी शुरुआत हुई थी। लगभग 3000 गांव और लगभग 30 लाख की आबादी इसके प्रभाव में थे। सभी वर्गों के किसानों ने इसमें भाग लिया और भारतीय सेना द्वारा खत्म किए जाने से पहले इसने कई सफलताएं भी हासिल कीं। अक्टूबर 1951 में आखिरकार आंदोलन को औपचारिक रूप से वापस ले लिया गया।

1940 दशक के दौरान कांग्रेस ने व्यापक स्तर पर जमींदारी उन्मूलन के विचार को स्वीकार कर लिया। 1946 के अपने चुनाव घोषणापत्र में इसने प्रस्तावित किया कि जमींदारों को उचित हर्जाना चुकाकर जमींदारी का उन्मूलन कर दिया जाएगा। असल में जमींदारी उन्मूलन कानूनों में जमींदारों को भरपूर मुआवजा दिया गया और पर्याप्त समय दिया कि वे अपनी जमीनें मनोवांछित तरीके से निपटाएं। यह सही है कि जमींदारी उन्मूलन से काफी बटाइदारों और धनी किसानों को फायदा हुआ। लेकिन ऐसे उपायों से गरीब किसानों और खेत मजदूरों को बहुत लाभ नहीं मिला।

25.6 किसान समुदाय और भारतीय राष्ट्रवाद— एक मूल्यांकन

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में राष्ट्रवादी आंदोलन के शुरू होने के बहुत पहले से औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध किसान आंदोलन जारी थे। लेकिन राष्ट्रवादी आंदोलन के उदय ने किसान आंदोलनों को पुनरुपरिभाषित करने में मदद की। राष्ट्रवादी आंदोलन द्वारा प्रसारित राष्ट्र के विचार ने किसानों की चेतना उन्नत करने और आल इंडिया किसान सभा के निर्माण का आधार बनाने में बड़ी भूमिका निभाई। इससे किसानों को महसूस हुआ कि अखिल भारतीय स्तर पर उनके कुछ साझा हित हैं। इससे स्थानीय किसान आंदोलनों को राष्ट्रीय चरित्र और महत्व प्राप्त करने का प्रोत्साहन मिला।

दूसरी ओर किसान आंदोलनों ने साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में राष्ट्रवादी आंदोलन को बल प्रदान किया। शुरुआती दौर में कांग्रेस के सीमित सामाजिक आधार ने इसके नेताओं को मध्य वर्ग और आम जनता में व्यापक समर्थन खोजने के लिए मजबूर कर दिया। राष्ट्रवादी लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए किसान एक बेहद महत्वपूर्ण समूह था जिसे गोलबंद किया जा सकता था। औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध किसानों के अपने विक्षोभ थे क्योंकि शोषक औपनिवेशिक नीतियों के चलते वे भारतीय समाज का सबसे अधिक शोषित और दमित समूह थे। किसानों के बीच राष्ट्रवादी विचारों को प्रोत्साहित करने के लिए राष्ट्रवादी नेतृत्व ने किसानों को ऐसे सुगठित समूह के रूप में पेश करने की कोशिश की जो जाति, वर्ग और धर्म के विभाजनों के परे हो। बहरहाल जमींदारों के विरुद्ध वर्गीय शत्रुता पर जोर कम किया गया, और गोलबंदी का प्राथमिक उद्देश्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध सर्व-वर्गीय और सर्व-भारतीय संश्रय कायम करना था। किसानों के एक सुसंगठित एकल समूह का विचार इस मामले में उपयोगी था कि राष्ट्रवादी नेतृत्व किसान की व्यापक धारणा के भीतर छोटे और बरबाद हो चुके जमींदारों को भी एकताबद्ध कर सकता था। दूसरी ओर किसानों की मांगों को लगातार उठाकर राष्ट्रवादी लोग किसानों को राष्ट्र के साथ एकताबद्ध करना चाहते थे। इसी रणनीति के तहत कांग्रेस अलग से किसान संगठन बनाने के पक्ष में नहीं थी। राष्ट्रवादियों का विश्वास था कि किसानों का प्राथमिक अंतर्विरोध साम्राज्यवाद के साथ है और इसीलिए उन्हें अपने संघर्षों को उसके विरोध में ले जाना चाहिए।

बहरहाल सर्व-वर्गीय एकता के नाम पर कांग्रेस ने जमींदारों द्वारा थोपी हुई ऊंची लगान और अनुचित वसूलियों के विरोध में किसानों के जायज संघर्षों का भी समर्थन नहीं किया। किसानों की राष्ट्रवादी गोलबंदी की समस्या जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष की उपेक्षा है। यू पी को छोड़कर बाकी जगहों पर ऊपरी राष्ट्रवादी नेतृत्व ने किसानों को प्राथमिक रूप से राज्य द्वारा राजस्व की मांग घटाने के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के इर्द गिर्द गोलबंद किया। जहां तक जमींदारों द्वारा मांगी जा रही बेजा लगान और सूदखोरों के शोषण से पैदा होने वाली किसानों की तकलीफों का सवाल है तो उच्च राष्ट्रवादी नेतृत्व ने आम तौर पर इसकी उपेक्षा की या इस शोषण के विरुद्ध किसान संघर्षों का विरोध भी किया।

इसके बावजूद कांग्रेस किसानों को गोलबंद करने में सफल रही क्योंकि यह सामंती तत्वों से जुड़ी हुई नहीं थी। कांग्रेस अपने वैचारिक घेरे में राजस्व-विरोधी और लगान-विरोधी प्रचार जैसी क्रांतिकारिता को भी समाहित कर सकती थी। विभिन्न स्तरों पर किसानों की मांगों को उठाने और उनका समर्थन करने की कांग्रेस की तत्परता ने उसे मौका दिया कि वह किसानों को व्यापक राष्ट्रवादी आंदोलन में एकताबद्ध कर सके। किसानों ने राष्ट्रवादी लक्ष्य का समर्थन इसलिए किया कि उन्हें लगा कि जमीन, लगान/राजस्व, और कर्ज से जुड़ी हुई उनकी बुनियादी समस्याओं का इसके जरिए समाधान हो जाएगा। इसीलिए किसान अक्सर राष्ट्रवादी विचारों को अपने तरीके से व्याख्यायित करते और उस पर अमल करते थे। किसानों ने राष्ट्रवादी संदेश को महज औपनिवेशिक शासन के विरोध में नहीं, बल्कि जमींदारों, सूदखोरों, व्यापारियों, और दुकानदारों के समान तमाम किस्म के अन्य उत्पीड़कों के भी विरोध में ग्रहण किया।

अधिकांश अध्ययनों से पता चलता है कि कांग्रेस का सामाजिक आधार न तो ऊंची जाति के भूमिधर कुलीन समूहों से और न ही निचली जाति के गरीब किसानों और खेत मजदूरों से बना था। यह सामाजिक आधार अधिकांशतः धनी और मध्य किसानों में था। बहरहाल किसानों के सभी तबकों ने अलग अलग मात्रा में राष्ट्रवादी आंदोलनों में भाग लिया, हालांकि किसानों के ऊपरी तबकों की भागीदारी अधिक हो सकती है।

जब कभी किसान आंदोलन कांग्रेस के कार्यक्रम से बाहर भी चला जाता तो वह राष्ट्रवादी विचारों का ही इस्तेमाल करता था और इसके लक्ष्य तथा उद्देश्य राष्ट्रवादी मुहावरे में ही

व्यक्त होते थे। कांग्रेस की आधिकारिक नीतियों से असहमति के बावजूद किसान नेता आम तौर पर राष्ट्रवादी शब्दावली का ही उपयोग करते और अपने कार्यक्रमों को लागू करने के लिए प्रमुख कांग्रेसी नेताओं का नाम लेते। औपनिवेशिक सरकार का मुकाबला करने के लिए तथा भारतीय समाज के सर्वाधिक बड़े और महत्वपूर्ण हिस्से पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए कांग्रेस भी किसान आंदोलनों में अधिकाधिक शामिल होती जा रही थी।

यह कहना मुश्किल है कि कांग्रेस के साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यक्रम की जटिलताओं को किसानों ने अपना लिया या साम्राज्यवाद-विरोधी सर्व-भारतीय राष्ट्रवाद का अर्थ किसानों की चेतना में गहराई से समा गया। जो भी हो इसमें कोई संदेह नहीं कि कांग्रेस के आंदोलन की आम दिशा से किसान परिचित थे और अपने आंदोलनों में उन्होंने राष्ट्रवादी प्रतीकों तथा नेताओं के नाम का उपयोग किया। उन्होंने कई राष्ट्रवादी विचारों को ग्रहण कर लिया जो उन तक कांग्रेसियों या अन्य राष्ट्रवादियों अथवा क्रांतिकारियों के जरिए आ रहे थे।

25.7 सारांश

औपनिवेशिक हस्तक्षेप के विरुद्ध कृषक प्रतिरोध औपनिवेशिक शासन के शुरुआत से ही आरम्भ हो गया। लगभग सौ साल या उससे भी ज्यादा समय तक किसानों का प्रतिरोध और जमींदारों तथा सूदखोरों जैसे औपनिवेशिक सत्ता के समर्थकों समेत उपनिवेशवाद का विरोध पारंपरिक नेतृत्व की अगुवाई में चलता रहा जो अनेक रूपों में किसानों से घनिष्ठ तौर पर जुड़ा हुआ था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में कुछ मध्यवर्गीय, आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों ने किसानों और आदिवासियों का सवाल उठाया और उनकी मांगों को स्वर दिया। बहरहाल यह मध्यवर्गीय नेतृत्व बीसवीं सदी के दूसरे दशक में ही किसानों तक पहुंच सका। गांधी सबसे महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी नेता थे जिन्होंने राष्ट्रवाद के भीतर किसानों को खींच लाने की गंभीर कोशिश की और वे इसमें सफल भी हुए। उनके चलते कई कांग्रेसी नेता किसान आंदोलनों में शामिल हुए। बहरहाल कांग्रेस ने इन आंदोलनों में जमींदारों के विरुद्ध अंतर्निहित वर्गीय शत्रुता को सीमित करने की कोशिश की। कांग्रेस का मुख्य मकसद किसान आंदोलनों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध निर्देशित करना था। इस चाहत में किसानों की कई जायज मांगें या तो उठाई नहीं गईं या उपेक्षित रह गईं। इस तरह हालांकि खासकर कांग्रेस और आम तौर पर राष्ट्रवादी आंदोलन ने किसान आंदोलनों को आधुनिक चेतना से लैस करने या उनके छोटे आंदोलनों को व्यापक और दृश्यमान बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई फिर भी कांग्रेस ने कभी कभी किसानों के उन सवालों के लिए भी दबाव नहीं बनाया जिन्हें उसने ही उठाया था।

25.8 अभ्यास

- 1) राष्ट्रवाद और किसान समुदाय के बीच रिश्तों के बारे में विभिन्न इतिहासकारों के विचारों का विवेचन कीजिए।
- 2) किसान आंदोलनों और राष्ट्रवादी आंदोलन के बीच घनिष्ठ संबंध के आरंभ की शुरुआती प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
- 3) 1920 और 1930 दशकों के दौरान बिहार और संयुक्त प्रांत में राष्ट्रवाद और किसान आंदोलनों के आपसी सहयोग पर विचार कीजिए।
- 4) किसान आंदोलनों के बारे में राष्ट्रवादी रणनीति क्या थी?